



मुकेश कुमार बिस्सा जैसलमेर

युद्ध के बाद का शहर

युद्ध के बाद का शहर
किसी उजड़े हुए सपने जैसा होता है—
जहाँ दीवारें खड़ी रहती हैं,
पर उनमें घर नहीं बसते।

सड़कें अब भी वहीं हैं,
पर उन पर कदमों की आहट नहीं,
सिर्फ धूल चलती है
और सन्नाटा साँस लेता है।

कभी इसी मोड़ पर
चाय की दुकान हुआ करती थी,
जहाँ शामें
हँसी के कप में घुल जाती थीं।

आज वही मोड़
टूटे शीशों और बिखरे पत्थरों से पूछता है—
“कहाँ गए वो लोग?”

बाज़ार, जो कभी
रंगों और आवाज़ों से भरा था,
अब खामोश है—

जैसे किसी ने उसकी आवाज़ छीन ली हो।
दुकानों के आधे टूटे बोर्ड
हवा में झूलते हैं,
और हर झोंका
उनसे एक करुण ध्वनि निकालता है।

यह शहर अब
केवल जगह नहीं,
एक स्मृति है—
जिसे कोई ज़ोर से बोल नहीं पाता।

किसी गली में
एक टूटी गुड़िया पड़ी है,
जिसकी आँखें
अब भी किसी बच्चे को ढूँढ रही हैं।

शायद वह बच्चा
किसी मलबे के नीचे
अपने अधूरे खेल के साथ सो गया।

किसी घर की दीवार पर
अब भी टँगी है एक तस्वीर—
मुस्कुराते चेहरे,
जिन्हें समय ने
अचानक चुप करा दिया।

रसोई में
जला हुआ चूल्हा है,
मानो किसी ने

जल्दबाज़ी में जीवन छोड़ दिया हो।

युद्ध के बाद
शहर मरते नहीं—
वे धीरे-धीरे
जीना भूल जाते हैं।

यहाँ रात जल्दी उतरती है,
और सुबह भी
थकी हुई लगती है।

कभी-कभी
कोई बूढ़ा लौट आता है,
अपनी ही गली को पहचानने—
पर गली भी
अब उसे पहचान नहीं पाती।

वह दीवारों को छूता है,
और अपनी उँगलियों में
बीते हुए समय को महसूस करता है।

पर स्मृतियाँ
अब पत्थरों में बदल चुकी हैं,
जो बोलती नहीं—
सिर्फ चुप रहती हैं।

शहर के बीचोबीच
एक पेड़ अब भी खड़ा है,
जिसने सब कुछ देखा है—

हँसी, आँसू, और विनाश।

उसकी सूखी शाखाएँ
आसमान से पूछती हैं—
“क्या फिर कभी
यहाँ जीवन लौटेगा?”

और आसमान
चुप रहता है।

युद्ध के बाद का शहर
हमें सिखाता है—
कि जीत की कीमत
कितनी भारी होती है।

कि हर विजय के पीछे
एक पराजय छिपी होती है,
जो आँकड़ों में नहीं,
दिलों में दर्ज होती है।

और तब
इस खामोश शहर के बीच
एक धीमी सी आवाज़ उठती है—

“काश...
यह युद्ध कभी हुआ ही न होता।”